

## भारतीय समाज में मूल्यों का रूप

डॉ. मुमताज बानो

सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, शिया पीजी कॉलेज, लखनऊ

सामाजिक मूल्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं को मापने (मूल्यांकन करने में) का वह पैमाना है जो किसी घटना-विशेष के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। सामाजिक मूल्य प्रत्येक समाज के वातावरण और परिस्थितियों के वैभिन्न्य के कारण अलग-अलग होते हैं। ये मानव मस्तिष्क को विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो सामाजिक मूल्यों के निर्माता होते हैं। प्रत्येक समाज की सांस्कृतिक विशेषताएँ, अपने समाज के सदस्यों में विशिष्ट मनोवृत्तियाँ उत्पन्न कर देती हैं जिनके आधार पर भिन्न-भिन्न विषयों और परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जाता है।

यह सम्भव है जो 'आदर्श' और मूल्य एक समाज के हैं, वे ही दूसरे समाज में अक्षम्य अपराध माने जाते हैं। भारत के सभ्य समाजों में विवाहेतर यौन सम्बन्ध मूल्यों की दृष्टि से घातक हैं किन्तु जनजातियों के सर्वोच्च लाभदायी मूल्य हैं। अतः मूल्यों का निर्धारण समाज की विशेषता पर आधारित है।

एच० एम० जॉनसन के अनुसार—“मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और इसके द्वारा चीजों की एक-दूसरे के साथ तुलना की जाती है, इसे स्वीकृति या अस्वीकृति प्राप्त होती है, एक-दूसरे की तुलना में उचित-अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक अथवा गलत माना जाता है।”

रोबर्ट बीरस्टीड के अनुसार—“जब किसी समाज के स्त्री-पुरुष अपने ही तरह के लोगों के साथ मिलते हैं, काम करते हैं या बात करते हैं, तब मूल्य ही उनके क्रमबद्ध सामाजिक संसर्ग को सम्भव बनाते हैं।”



राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—“मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिपरक अधिमान्यताएँ मानदण्ड तथा अभिलाशाएँ बन जाती है।”

स्कैफर एवं लाम के अनुसार—“मूल्य वे सामूहिक धारणाएँ हैं जिन्हें किसी संस्कृति विशेष में अच्छा, वांछनीय तथा उचित अथवा बुरा, अवांछनीय तथा अनुचित माना जाता है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मूल्य का एक सामाजिक आधार होता है और वे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। मूल्य हमारे व्यवहार का सामान्य तरीका है। मूल्यों द्वारा ही हम अच्छे या बुरे, सही या गलत में अन्तर करना सीखते हैं।

अतः इस अर्थ में सबकी नियामिका शक्ति को हम ‘चेतना’ कह सकते हैं। किन्तु इस ‘चेतना’ के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक आदि अनेक पक्ष हो सकते हैं। जो स्त्री-पुरुष विभेद के बावजूद अंततः सम्पूर्ण मानव-जाति से सम्बन्ध है। परन्तु इस शोध विषय के प्रसंग में, नारी-जीवन से सम्बन्ध, उक्त विविध चेतना पक्षों के समसामयिक संजीव तथा सम्पक चित्रण को हम ‘नारी चेतना’ के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

चेतना के स्वरूप को जानने के पश्चात् अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि चेतना को किस रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। अर्थात् चेतना प्रकार कितने हैं।

‘चेतना’ शब्द अपने आप में एक बड़ा ही व्यापक अर्थ रखता है। हमारा इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, साहित्य, राजनीति, दर्शन जहाँ देखो वहाँ चारों ओर चेतना की सुंदर किरन के ही दर्शन होते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इतने ही प्रकार की चेतना हो सकती है यहाँ महत्त्वपूर्ण होता है व्यक्ति-व्यक्ति का अपना नजरिया। जैसे कि



हम समाज को राजनीतिक, साहित्यिक धरातल पर देखते हैं, वैसे ही चेतना को भी विविध रूपों में देखा जा सकता है।

मूल्य-चेतना के विषय में जेम्स ने लिखा है—“मन में निरंतर परिवर्तनकारी चेतना के प्रवाह द्वारा मस्तिष्क के असंगठित प्रतिबिम्बों और विचारों के तारतम्य को प्रस्तुत किया जाता है। ये विचार एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, लेकिन यह सम्बन्ध तार्किक होने के कारण नहीं, बल्कि प्रतिपल परिवर्तन के संकल्पों के अनुकूल होता है इसमें विवरणात्मक तारतम्य नहीं, बल्कि बौद्धिक प्रक्रिया प्रस्तुत होती है।”<sup>1</sup>

अतः चेतना का विस्तार व्यक्ति से लेकर संपूर्ण समाज तक फैला हुआ है। ज्ञान के विविध क्षेत्र, मानव-मन की नानाविध अनुभूतियों, अनेक प्रकार के जीवन-दर्शन, बहुमुखी प्रगति के नये क्षितिज आदि सभी का समावेश चेतना में हो सकता है। हम वर्गीकरण के जितने आधार खोज सकते हैं, उतने प्रकार की चेतना हो सकती है। डॉ० देवराज पथिक मूल्यों का ‘चेतना’ के रूप में वर्गीकृत किया है। वर्गीकृत करते हुए लिखते हैं कि “व्यक्तिगत स्तर पर पारिवारिक स्तर पर समाज, जाति या वंश के स्तर पर, देश-राष्ट्र के स्तर पर, विश्व के समूह स्तर पर सोचने समझने की शक्ति चेतना है। चेतना मूल्य आधारित होती है, जैसे – सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, ऐतिहासिक मूल्य, भौगोलिक मूल्य, राजनीति मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य, बाल मूल्य, मानवीय मूल्य इस प्रकार अनेक प्रकार से चेतना को वर्गीकृत किया जा सकता है वर्गीकरण का आधार ही चेतना के स्वरूप को मनोवैज्ञानिक रूप देता है।

“समाज के प्रति मनुष्य की जागरुक मानसिकता ही उसकी सामाजिक चेतना है तो उस व्यक्ति की अपनी युगीन राजनीति के प्रति जागरुक मानसिकता राजनीतिक चेतना है, साहित्य के प्रति जागरुक मानसिकता साहित्य चेतना है और धर्म के प्रति जागरुक मानसिकता उसकी धार्मिक चेतना कहलाती है।



चेतना का यह अजस्र प्रवाह साहित्य में कैसे समाविष्ट हो जाता है, इसका कारण समझाते हुए वे आगे लिखते हैं कि “कवि अपने युगीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सुने बिना रह नहीं सकता। इसलिए उनकी रचनाओं में कम या अधिक मात्रा में युग की राजनीति, धर्म, संस्कृति, साहित्य, अर्थव्यवस्था और सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति पाई है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मनुष्य के मस्तिष्क की जागृत अवस्था ही चेतना है। चेतना का विस्तार व्यक्ति से लेकर संपूर्ण समाज तक फैला हुआ है। इस प्रकार साहित्य, समाज और नारी चेतना का गहरा संबंध है।

चेतना को जीवन में सदैव प्रवाहित रहनेवाला मूल-तत्व स्वीकार कर चले तो ‘चेतना’ की हम कोई मूल्य विचार कदापि नहीं मान सकते। अर्थात् इसका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि चेतना के मूल्यहीन और समसामयिक विकासमान पक्ष पर ही विचार अभीष्ट होगा और शायद ‘चेतना’ को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा, उसके समसामयिक विकासमान पक्ष की चर्चा करना आवश्यक है।

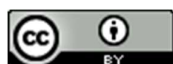
संभवतः इसी तथ्य को अविस्मृतकर भारतीय धर्मग्रंथों में तथा पूर्ववती और परवर्ती संस्कृत आचार्यों के बाद आधुनिक चिन्तकों द्वारा ‘चेतना’ को ‘मूल्य’ का जामा पहनाकर उसे पारिभाषित करने का बार-बार प्रयत्न किये जाने पर भी, वह परिभाषा की सीमा में बद्ध न हो सकी जबकि चेतना कभी भी हमारे लिये मूल्य नहीं बन सकी और न ही उसे ‘मूल्य’ का जामा पहनाकर उसे हम परिभाषित कर सकते हैं।

जो भी हो परंतु रचना के स्तर पर यह बात हम से छिपती नहीं है। इसलिए यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि रचना के स्तर पर चेतना की पहचान करानेवाले ‘समय सापेक्षता’ को वरण करनेवाली चेतना, उसकी तेज रफतार अनवरत प्रक्रिया को ‘मूल्य’ मानने के सिवा, हमारे सामने दूसरा रास्ता ही बचता नहीं।

हमारे अध्ययन की सीमा विवशता को देखे तो चेतना को एक मूल्य मानने के सिवा हमारे पास कोई और विकल्प ही नहीं बचता। जबकि वास्तविकता यह है कि चेतना कभी भी मूल्य नहीं हो सकती। वह एकमात्र अनवरत प्रक्रिया है जो मनुष्य, समाज और समय में कभी जुदा नहीं की जा सकती।

वस्तुतः समय सापेक्षता से अलग हटकर या उससे ऊपर हटकर चेतना की तलाश करना बेइमानी ही नहीं बल्कि एक गलत दृष्टिकोण भी है, क्योंकि तब हम समय को नकार कर या ठहरा हुआ मानकर 'चेतना' की तलाश करने लग जाते हैं। जबकि चेतना में समय काफी विशाल, विराट और असीमित है। चेतनाबोध की तलाश, समय के बीच, सापेक्षता को छोड़कर या ठहरा हुआ मानकर, जब चेतना बोध बात की जाती है तो तय है कि हम किन्हीं स्थिर स्थितियों की बात करने लगते हैं। अर्थात् रचना सत्य को (चेतना) एक रुकी हुई कृति के रूप में देखने लगते हैं, और फिर शोध प्रविधि या साहित्यिक परम्परा प्रदत्त मूल्यों के अनुसार 'रचना-चेतना' का 'कृति' हो जाना ही अपने आप में महान उपलब्धि बन जाती है।

यह मानसिकता हमें उस रूढ़ परम्परा से मिली है जो समय निरपेक्ष होकर सिर्फ 'कृति-सत्य' को रेखांकित करती है। असल में बात यह है कि कोई भी लेखक 'रचना' या 'कृति' की आंतरिक शक्ति से तब तक पल्लवित नहीं होता, जब तक कि उसकी जड़े, अपने समयमें तथा परम्परागत सच्चाईयों में रची बसी नहीं होती। संक्षेप में कहना चाहिए कि समय बोध चेतना बोध है, एक रचनाकार के लिए भी और औसत व्यक्ति के लिए भी। किन्तु समय की अनवरत धारा में नयी चेतना का उन्मेष तब तक नहीं होता, जब तक कि उस समय की चेतना किन्हीं विश्वासों या अविश्वासों में परिणित नहीं होती। जब तक कुछ बने हुए विश्वास चेतना को अनुप्राणित करते हैं, तब तक हासोन्मुख युग की चेतना धूमिल होकर लुप्त नहीं होती। एक पनपती हुई चेतना और बहती हुई इतिहास की अतल गहराईयों में विलीन होती हुई चेतना के संघर्ष में किसी भी तरह के समझौते की बात निरर्थक जान पड़ती है। इसलिए समय में साँस लेता सच्चाईयों को उत्कीर्ण करनेवाला



लेखन ही 'चेतना' के नाम से अभिहित होकर 'रचना' की स्तरीयता को प्राप्त करता है। परंतु इस शोध प्रबंध के संदर्भ में समय में साँस लेती सच्चाईयों को उत्कीर्ण करनेवाली स्थिति मात्र वही होगी, जो समय को ठहरा हुआ मानकर सामने लाई जा सकती है।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन तीसरे आयाम की अर्थात् पाँचवे दशक से चेतना, नारी जीवन के लिए अपने समय के तनावों को आत्मसात करके जीने और उस तनावों से पैदा हुए उलझे सवालों को अपनी रचना चेतना में समाहित कर लेने के कारण, स्वातंत्र्योत्तरकाल में हिन्दी की महिला लेखिकाओं की रचना चेतना, समूची नारी जाति के सापेक्ष रही है। अतः चेतना की सीमा-रेखा का भी यही पर सुलझ जाता है कि पाँचवे दशक की जो महिला कथा लेखिकाएँ हैं, उन्होंने नारी-जीवन की आंतरिक और बाह्य दोनों तरह की चुनौतियों के सामने बार बार अपने कृतित्व की सीमाओं से लड़ने का प्रयत्न किया है या नहीं? देखना होगा कि 'रचना-चेतना' के नाम पर, कहीं नारीजाति के दुःख अवसाद और अंतरात्मा के दर्द को तर्कसंगत बनाने की साहित्यिक कोशिशों के कारण परक अभिव्यक्ति की अपेक्षा तो नहीं? क्योंकि कारणपरक अभिव्यक्ति की अपेक्षा, समय और संदर्भों में उपजी चेतना ही रचनात्मक और प्रयोगशील हो सकती है और रचना चेतना के स्तर पर नारी-सापेक्ष भी।

अतः युगबोध के विशाल धरातल पर अपने समग्र रूप में चेतना की व्यापक और अखंड प्रकृति को स्वीकारते हुए भी नारी-चेतना के विश्लेषण के प्रसंग में युग जीवन से जुड़ी तमाम क्षेत्रीय चेतनाओं का, 'नारी-जाति' को परिप्रेक्ष्य में रखकर विश्लेषण करना ही उचित होगा। वस्तुतः उसकी संपूर्ण रचना चेतना मूलतः समय सापेक्ष क्रियाशीलता में ही निहित है।

वास्तव में मनुष्य समय सापेक्ष सच्चाई को वरण करनेवाली चेतना की व्याप्ति और सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। क्योंकि 'चेतना' परिवर्तनशील है। इसलिए उसकी व्याप्ति और सीमा का प्रश्न उलझनें पैदा करता है। वैसे 'चेतना' की सीमा और व्याप्ति का



प्रश्न हल किया जा सकता है। यदि हम व्याप्ति और सीमा के प्रश्न को सिर्फ साहित्यिक परम्परा के नजरिये से देखे। अथवा 'चेतना' को एक स्थिर 'मूल्य' के रूप में स्वीकार कर लें, तो इस जटिल मशले पर बात आगे बढ़ सकती है। परन्तु इसे ही यदि हम 'सापेक्षता' के दृष्टिकोण से देखें तो बात कतई आगे नहीं बढ़ सकती है। इसका एक मात्र कारण है— चेतना की छली और युगधर्म के अनुसार, मनुष्य जीवन की व्यापक संभावनाओं को अपने में समेटनेवाली विकासशील, अपरिभाष्य तथा विराट प्रकृति।

परन्तु किसी विषय विशेष की जानकारी अथवा उसे गहराई से सोचने समझने के लिए खास तौर पर मानवीय आकलन क्षमता को सम्मुख रखते हुए क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार (जैसे सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, धार्मिक चेतना, साहित्यिक चेतना आदि) चेतना को परिभाषित न सही, किन्तु उसे खण्डित करने का एक आम बौद्धिक रिवाज है।

इस प्रकार चेतना लोकमंगल की भावना, विविधता में एकता की भावना, आध्यात्मिकता व्यक्ति के विकास के लिए व्यवस्था, सदाचार की भावना प्रेम एवं आपसी सहयोग की भावना, सार्वभौमिकता आदि के द्वारा विश्व-मैत्री एवं प्राणी मात्र की एकता का सन्देश देती है। अहम को त्याग कर विपक्षी द्वन्द्वो और भेदों से छुटकारा पाने का मार्ग विश्व के सामने प्रशस्त करती है।

मूल्य समस्त सृष्टि का आधार है। मनोवैज्ञानिक द्वारा चेतना के संदर्भ में दिये गये निष्कर्ष अपने आप में स्वयंपूर्ण नहीं, वे अधूरे हैं क्योंकि व्यक्ति का मानस, कोई ऐसी जड़ वस्तु नहीं है कि उसे विश्लेषित किया जा सके। मनुष्य चेतना का अस्तित्व तथा उसके प्राणीशास्त्रीय आधार पर भले ही स्थित हो, किन्तु चेतना के अभ्यान्तरीकृत रूप है। मूल्य मनुष्य की आत्मिक तथा सतात्मक एकता का धर्म है और उसका अस्तित्व कर्म या क्रियाशीलता की मात्रा में ही प्रमाणित होता है।

मनुष्य ने विकास के प्रत्येक चरण पर संघर्षों, द्वन्द्वी एवं दुविधाओं का अनुभव किया है। इस संघर्ष एवं द्वन्द्वी का एक छोर 'अहं' रहा है, तो दूसरा छोर 'वयं' अर्थात् 'हम' रहा है। संक्षेप में व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्वों का संघर्ष इतिहास ही 'चेतना' का विकास रहा है और चिन्तन के स्तर पर व्यष्टि चेतना के उस व्यापक समष्टि चेतना में मिलते हैं।

मूल्य महाकालकी जातीय सच्चाई है। अपने समय रूप में वह 'चेतना' होती है, वह अपने विशुद्ध रूप में राजनीतिक सामाजिक या ऐतिहासिक कतई नहीं होती। जब वह मानवीय आकलन क्षमता के स्तर पर उतर आती है, तब वह अपने क्षेत्र की (जिसे, सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय चेतना इत्यादि) संवाहिका बन खंडित रूप में उपस्थित हो जाती। लेकिन, किसी क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध चेतना को, जब तक हम उसकी समग्रता में रूपायित करने का प्रयत्न नहीं करते तब तक, किसी भी क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध चेतना का विवेचन विश्लेषण संभव नहीं है।

रचनात्मक मूल्य समयगत सच्चाईयों से ऊपर उठकर तटस्थ हो जाने में नहीं, समयगत सच्चाईयों के भीतर प्रवेश कर उसकी अंतरंगता में सम्बन्ध हो जाने से निःसृत होती है क्योंकि जिन्दगी से व्यवस्था तटस्थता कर सकती है। सत्ता और सत्य तटस्थ हो सकते हैं पर साहित्यकार की रचना चेतना अपनी समयगत सच्चाईयों से तथा संदर्भों से कभी तटस्थ नहीं हो सकती है। साहित्य का वह मूल तत्त्व है, जो साहित्यकार की पूर्वानुभूतियों को हर नये अनुभव के साथ संश्लिष्ट कराते हुए, एक समय सापेक्ष नवीन व्यवस्थापन को जन्म देता है। मीडिया और बाजारवाद नामक अपनी पुस्तक में कहते हैं—“बाजार की चालू भाषा के आक्रामक दबाचों के तले जिस अनुपात में शब्द प्रतीकामक अर्थ, स्मृति, कत खोते जा रहे हैं। उस अनुपात में मनुष्य का आंतरिक और आध्यात्मिक जीवन भी खोता जा रहा है।”

साहित्य की चेतना, कृति में उद्घाटित समसामयिक संवेदनशीलता, गत्यात्मकता और प्रयोगशीलता लचीलेपन के कारण स्पष्ट होती है। जब ये युग समाप्त हो जाते हैं या





क्षीण होने लगते हैं, तब रचना में जडता, एकरसता और अन्य अनेक समय निरपेक्ष तत्त्वों का समावेश होने लगता है। अर्थात् चेतना के गत्यारोध के कारणों में युगबोध का आक्रमण, साहित्यकार को युग निरपेक्षता या अन्य काल बाह्य आकर्षणों की प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वीकृति आदि इनमें से प्रमुख है, किन्तु यह सभी कारण चेतना के गत्यारोध के नहीं परन्तु एक नयी चेतना के उन्मेष में सहायक सिद्ध होते हैं और चेतना की विकासमान प्रकृति के लिए यह नितान्त आवश्यक भी है।

चेतना अनवरत प्रक्रिया है, जो मनुष्य समाज और समय को सभी से अलग नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से चेतना मानव अस्तित्व के सहज रूप स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। “उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारण बनाना नहीं अस्तित्व के सजीव अनुभव को प्रभावपूर्ण ढंग से पकड़ना है।

भूमंडलीकरण अपने दायरे में कोई स्पेस खुला नहीं छोड़ता। ऐसा उन देशों में ही हो रहा है जहां समृद्धि अपनी पराकाष्ठा पर है। “वैश्वीकरण के कारण गरीब और अमीर देशों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। इसका कारण यह है कि वैश्वीकरण का लाभ केवल पूंजीपति देशों को ही अधिक मिल रहा है। वैश्वीकरण की भेदभाव पूर्ण नीतियों से पूरे विश्व में इसके बुरे प्रभाव देखने को मिलते हैं। इससे यचित समूहों में अलगाय व वेगानेपन की भावनाओं के जन्म से हिंसात्मक संघर्ष की शुरुआत हो रही है।”<sup>3</sup>

इस प्रकार अन्यान्य मूल्य समेकित होकर जीवन और समाज के अनेक मूल्यों की रचना करते हैं। इन मूल्यों में सर्वप्रमुख नैतिक मूल्य एवं जीवन मूल्य है इन्हीं राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य सामने आते हैं। अतः हमारी चेतना और संवेदना में इन्हीं से मूल्यबोध की दृष्टि सामने आती है।



भारत में मूल्यों के समाजशास्त्र के विकास में लखनऊ सम्प्रदाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। समाजशास्त्रीय शिक्षण एवं अनुसन्धान की दृष्टि से इसे भारत का दूसरा सम्प्रदाय माना जाता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के साथ दो प्रमुख नाम जुड़े हुए हैं—प्रो० राधाकमल मुकर्जी तथा प्रो० डी० पी० मुकर्जी। इस विभाग को पहले 'अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का लखनऊ सम्प्रदाय' कहा जाता था। इसमें पहले मानवशास्त्र विभाग भी सम्मिलित था तथा इस विषय को प्रो० डी० एन० मजूमदार पढ़ाते थे। बाद में यह सम्प्रदाय तीन विभागों में विभाजित हो गया—अर्थशास्त्र विभाग, समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग तथा मानवशास्त्र विभाग। राधाकमल मुकर्जी ने समाजशास्त्र के पश्चिमी बौद्धिक वातावरण का भारतीय स्वभाव से समन्वय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

### सन्दर्भ सूची

1. साहित्य और आधुनिक युगबोध, डॉ० देवेन्द्र, पृ०—18
2. भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ— डॉ० सच्चिदनन्द सिन्हा, पृ०—105
3. रामशरण जोशी— (संपादित) 'मीडिया और बाजारवाद' नामक पुस्तक में निर्मल वर्मा का लेख 'शब्द का गौरव आज भी है' के पृ० सं० 49 से उद्धृत।

